श्रमण परम्परा और अहिंसा

राकेश पाण्डेय

श्रमण परम्परा भारतीय चिंतन-विश्व की वाम निर्मिति मानी जाती रही है। यह ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी में उत्तर और ख़ास तौर पर पूर्वी भारत में चल रही सामाजिक और वैचारिक उथल-पुथल का निचोड़ है। श्रमणवाद प्रतिकार और स्थापित तंत्र को प्रश्नांकित करने का सांकृतिक रूपक रहने के साथ-साथ मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण का क्रांतदर्शी मार्ग भी खोलता है। सामान्यत: जैन, बौद्ध और सांख्य दर्शन से जुड़े विचारों को श्रमण परम्परा का आधार माना जाता रहा है। इस वैचारिक रिक्थ पर चिंतन की एक लम्बी परम्परा हमारे सामने है, जिसने न सिर्फ़ हमें नयी विचार व्यवस्था दी, बल्कि नये प्रत्यय भी दिये हैं।

कई बार आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक सोच में हम अतीत की वैचारिक परम्पराओं को उनकी तात्कालिक उपयोगिता की दृष्टि से किसी स्रोत के रूप में देखते हैं। यहाँ प्रस्तुत तीन लेख हमें यह बोध कराने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि अपने समय में किसी सुदीर्घ वैचारिक परम्परा की समझ और उपादेयता सरल नहीं होती। ऐसी परम्पराओं की समझ स्वयं में उसकी उपादेयता है, क्योंकि अक्सर जिन विचार परम्पराओं को मृत या हाशिये का मान लिया जाता है वे समाज के किसी न किसी हिस्से में सक्रिय होती हैं। सच तो यह है कि व्यापक मानवीय ज्ञान और अनुभव की पूँजी के रूप में विविधता सिर्फ़ वर्तमान में ही नहीं होती। कई बार हमारे समय को एक कारगर चुनौती देने वाला या उसे सम्पुष्ट करने वाला तत्त्व अतीत का कोई अनुभव या विचार-सूत्र होता है। ऐसी परम्पराएँ सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हमारे अपने समय से बेहद अलग किसी अनजानी पद्धति की भी हो सकती हैं। उनका हमसे दूर होना हमें आकर्षित करता है, और कई बार झकझोरता भी है। विचारों की दुनिया में उनका अलग जान पड़ना ही हमें नये सोच की सम्भावनाओं से रूबरू करवाता है। लेकिन परम्परा के किसी तत्त्व का हमारे चिंतन के दायरे में होना ही उसकी

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 388

समकालिकता और सहवर्तिता भी रचता है। कालिक दूरी को हम अक्सर उसकी उपादेयता के चश्मे से देखते हैं। किंतु मृत सिर्फ़ अतीत नहीं, वर्तमान भी होता है और विस्मृति अपने समय की भी होती है। परम्पराएँ वे ही जीवित होती हैं, जिनसे हम मुख़ातिब हैं और संवादरत होते हैं।

आधुनिकता का अध्ययन अतीत की विचार परम्पराओं की प्रासंगिकता से भी जुड़ा रहा है। कई बार यह भूल कर जिन्हें हम परम्परा और अतीत के खाने में डाल देते हैं उनका एक जीवंत वर्तमान भी होता है। औपनिवेशिक आधुनिकता के संदर्भ में प्रासंगिकता हमेशा पश्चिम की विचार परम्पराओं की मानी जाती रही है। यह प्रश्न सिर्फ़ इन बौद्धिक परम्पराओं की आधुनिक काल में भूमिका का ही नहीं रहा है, बल्कि इतिहास की एक ख़ास समझ से भी उपजता है। भारतीय बौद्धिक परम्पराओं की चर्चा प्रकारांतर से पश्चिमी आधुनिकता से अपना मेल बिठाने का भी प्रयास रही है। दूसरी तरफ़ अगर हम इन परम्पराओं की आधुनिक व्याख्या पर गौर करें तो वे बिलकुल लुप्त होती नहीं दिखतीं। ज़रूरत इस बात की है कि हम इन बौद्धिक परम्पराओं की प्रासंगिकता को भारतीय भाषाओं में हो रहे सोच-विचार के दायरे में देखने की कोशिश करें। तब हमें आधुनिकता की कहीं एक अलग निर्मिति भाषाओं के लोक में बनती दिखाई पड़ती है, जो न तो पश्चिमी ज्ञान से ग़ाफ़िल है और न ही भारतीय विचार-परम्पराओं को मृत या अप्रासंगिक मानती है। भाषाओं में ये विचार परम्पराएँ अपनी निरंतरता क़ायम रखती हैं। आधुनिक भारतीय भाषाएँ औपनिवेशिक ज्ञान के साँचे, जो मूलतः पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान पर खड़ा था, में अपने नये औज़ार तैयार करती हैं। नये ज्ञान से यह सम्पर्क इन भाषाओं में केवल नयी विधाओं को ही जन्म नहीं देता, बल्कि नये प्रत्ययों का निर्माण भी सम्भव करता है। विचार की देशज परम्पराएँ इस क्रम में बिलकुल छूट नहीं जातीं, बल्कि उनके पद और प्रत्यय आधुनिक पश्चिमी ज्ञान को औपनिवेशिक संदर्भ में अपनाये जाने का ज़रिया बनते हैं। यह सिर्फ़ उस ज्ञान का अनुवाद नहीं बल्कि भारतीय विचार की परम्पराओं की दृष्टि से उसका कायांतरण और नवीकरण भी है।

औपनिवेशिक युग में बौद्धिक परम्पराओं की रचना सिर्फ़ पश्चिम से प्रभावित और एक-सी नहीं थी। इस काल में जहाँ एक ओर संस्कृत, पाली, फ़ारसी और अरबी में लिखे जा रहे ज्ञान की परम्पराएँ क़ायम रहीं, वहीं भाषाओं में उस ज्ञान का एक और रूप उभरता रहा। भाषाएँ एक तरह से नये ज्ञान के निर्माण में मध्यस्थ की भूमिका में थीं।

भारत जैसे औपनिवेशिक तंत्र में बँधे रहे किसी समाज को हम आधुनिकता की प्रक्रिया से अलग रख कर नहीं देख सकते। अतीत और परम्परा का बोध हमारी आधुनिकता की समझ और उसकी जटिल बौद्धिक निर्मितियों से छन कर ही आता है। आधुनिकता से अछूती परम्परा की खोज एक तरह की मरीचिका है। इसके बावजूद राष्ट्रीयता की अवधारणा विचार और संस्कृति के आद्य-रूपों की ओर बार-बार लौटने और उनकी पुनर्प्रतिष्ठा पर टिकी होती है। औपनिवेशिक युग में बौद्धिक परम्पराओं की रचना सिर्फ़ पश्चिम से प्रभावित और एक-सी नहीं थी। इस काल में जहाँ एक ओर संस्कृत, पाली, फ़ारसी और अरबी में लिखे जा रहे ज्ञान की परम्पराएँ क़ायम रहीं, वहीं भाषाओं में उस ज्ञान का एक और रूप उभरता रहा। भाषाएँ एक तरह से नये ज्ञान के निर्माण में मध्यस्थ की भूमिका में थीं। अंग्रेज़ी में भारतीय परम्परा का संधान औपनिवेशिक युग में स्वयं में एक बड़ी प्रक्रिया थी ही। भाषाओं का लोक इस मायने में हमारी आधुनिक बौद्धिक परम्परा का हरकारा क्षेत्र है, जहाँ परम्परा की सुध खोये बग़ैर आधुनिक पश्चिमी ज्ञान को पूरी तरह आत्मसात्

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 389

कर लेने की ज़िद देखी जा सकती है।

भाषाओं के विचार लोक में भारतीय बौद्धिक परम्पराओं को एक नया जीवन मिलता है। इनके प्रत्ययों का वर्तमान उनके ऐतिहासिक विकास से अलग नहीं होता। वस्तुत: नयेपन के आग्रह के पीछे आधुनिकता अपने को और समयों से अलग छिटकाने की मंशा रखती है। लेकिन घटित होते काल में उसके कई रूप सक्रिय रहते हैं। अपने काल में आत्यंतिक रूप से होने का बोध आधुनिकता की देन है। जो घटित होता काल है और ठीक वह बिंदु, जिस पर उसका बोध लिए हम नये की पहचान करते हैं, किसी शंकु की नोक पर खड़े होने जैसा है जहाँ नीचे दृष्टि पड़ते ही हम उस प्रसार को देख पाते हैं जिस पर वह बिंदु टिका है। उस पर खड़े हो कर हम कई बार सिर्फ़ उस संकुचित काल-बोध या उसके आगे फैलते काल की आश्वस्ति रखते हैं। वर्तमान की या घटते हुए काल की यह प्रतीति, जो भविष्य में फैलते समय या काल-प्रसार से भी जुड़ी है, अपने को बार-बार बीते समय के फैलाव से छिटकने का द्वंद्व छिपाए रखती है। अक्सर अपने समय और उसके भविष्य का भय या उत्कंठा हम समय की अंतश्चेतना की तरह प्रकट होते देखते हैं। कई बार बीते समय का यह लौटना सायास होता है। अपने समय और भविष्य में डूबे हम हठात् पीछे मुड़ पड़ते हैं। लेकिन यह किसी व्यक्ति या समूह के कालबोध की बात नहीं रह जाती, बल्कि आधुनिकता के पूरे वैचारिक ताने बाने में यह बोध छिपा रहता है।

भाषाओं के विचार लोक में भारतीय बौद्धिक परम्पराओं को एक नया जीवन मिलता है। इनके प्रत्ययों का वर्तमान उनके ऐतिहासिक विकास से अलग नहीं होता। वस्तुत: नयेपन के आग्रह के पीछे आधुनिकता अपने को और समयों से अलग छिटकाने की मंशा रखती है। लेकिन घटित होते काल में उसके कई रूप सक्रिय रहते हैं।

हमारे समय में अहिंसा का प्रश्न सिर्फ़ अतीत से जुड़ी विचार परम्पराओं की प्रासंगिकता का ही नहीं बल्कि आधुनिक नैतिक दर्शन के बड़े सवालों में रहा है। नैतिक दर्शन की शब्दावली में हम अहिंसा का प्रश्न सत्ता और रचनात्मक उर्जा तथा साध्य और साधन के द्वंद्व के रूप में पाते हैं। भारतीय चिंतन परम्परा में यह प्रश्न प्रवृति और निवृत्ति मार्ग के आदर्शों के द्वंद्व के रूप में देखा गया है, जो आधुनिक समय में गाँधी के अहिंसा दर्शन और प्रयोगों में हमारे लिए नयी चुनैतियाँ और सम्भावनाएँ ले कर आता है। आधुनिक समय में श्रमण परम्पराओं पर हुए विचार में, चाहे वह इन परम्पराओं के शास्त्रों के जानकारों के बीच हो या सामाजिक और राजनीतिकर्मियों के बीच, गाँधी के अहिंसा-विचार की प्रतिच्छाया ज़रूर रही है। गाँधी को भारतीय चिंतन के किताबी खानों में बाँटना सहज नहीं, न ही प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों में किस एक पर चलने वाले के रूप में देखना आसान है। भारतीय चिंतन परम्परा के विभिन्न तत्त्वों का गाँधी के चिंतन में एक नया संयोजन अवश्य दिखाई पड़ता है। इसलिए इसके बावजूद कि गाँधी अपने को व्यवस्थित चिंतक नहीं मानते, परम्परा के जानकारों के लिए वे सहज आकर्षण बने रहते हैं। यह बात गाँधी की श्रमण परम्पराओं से जुड़ाव में विशेष रूप से ग़ौर करने की है।

हम इन लेखों से यह भी जान पाते हैं कि आधुनिक भारत में पारम्परिक विद्याओं के ज्ञाता मूढ़ या अहंकारी विद्या-व्यसनी मात्र नहीं थे। उनमें कई तो अपनी भाषाओं में लिखते रहे हैं और अपने चिंतन और भाषा शैली में बेहद सजग और समकालीन रहे हैं। यहाँ दिया जा रहा गोविंद चंद्र पाण्डे का लेख 'श्रमण चिंतन में विश्व-दृष्टि और वैदिक परम्परा' जो कि मूलत: अंग्रेज़ी में लिखा गया था, उस काल के बौद्धिक परिदृश्य को हमारे सामने रखता है जिसके बीच से श्रमण परम्परा का विकास होता है। सामान्यत: वैदिक

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 390

और श्रमण परम्पराओं के भेद को भारतीय धर्म और विचार परम्पराओं का एक शाश्वत द्वैत मान लिया जाता है। वेद, उपनिषद् और उनके समकालीन श्रमण साहित्य के ब्योरों से यह लेख उस वैचारिक परिदृश्य की विविधता दिखलाता है, जिसमें से ये दो परम्पराएँ आगे चल कर अपने शास्त्रों के साथ विकसित हुईं। जगन्नाथ उपाध्याय बौद्ध दर्शन के अहिंसा-विचार के सहारे वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में अहिंसा के अध्ययन की नयी सम्भावनाओं पर ग़ौर करते हैं। उपाध्याय की भाषा, बौद्ध शास्त्रों का ज्ञान और उनके अलोक में अहिंसा जैसे प्रश्न पर विचार की शैली हमारा ध्यान खींचती है। सुखलाल संघवी आधुनिक भारत में जैन दर्शन के सबसे बड़े विद्वानों में गिने जाते रहे हैं। वे राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गुजरात और काशी में अध्यापन करते हुए संस्कृत, हिंदी और गुजराती में दार्शनिक और अन्य विषयों पर भी लिखते रहे थे। संघवी का यह लेख मूल रूप से हिंदी में लिखा गया था जिसमें गाँधी से उनकी समकालीनता की छाया सहज ही देखी जा सकती है। उपाध्याय और संघवी के लेखों में अहिंसा पर नैतिक दर्शन की दृष्टि से विचार का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र छिपा है, जहाँ अहिंसा एक निषेधपरक आदर्श न होकर श्रमण चिंतन परम्परा में अपने विधायी रूप में दर्शायी गयी है। श्रमण परम्परा में अहिंसा के विचार पर ये दोनों ही मीमांसाएँ गाँधी के अहिंसा-चिंतन पर भी विचार करती हैं। तब बहुत अचरज नहीं होता जब हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि 1930 में यरवदा कारागार से आश्रम जीवन पर विचार करते हुए गाँधी अपने पत्रों में अहिंसा के इस विधि पक्ष का ही तर्क रखते हैं और अपने अंतिम दिनों में वे साम्प्रदायिक हिंसा में सने भारत में अहिंसा के उस आदर्श की वकालत करते हुए अपने प्राण खो देते हैं। गाँधी के अहिंसा संबधी प्रयोग और विचार उपाध्याय और संघवी के लिए अंधे आदर्श नहीं। वे उन्हें श्रमण परम्परा के तात्त्विक विवेचन के क्रम में ही देखते हुए उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं को चिह्नित करते हैं।

1930 में यरवदा कारागार से आश्रम जीवन पर विचार करते हुए गाँधी अपने पत्रों में अहिंसा के इस विधि पक्ष का ही तर्क रखते हैं और अपने अंतिम दिनों में वे साम्प्रदायिक हिंसा में सने भारत में अहिंसा के उस आदर्श की वकालत करते हुए अपने प्राण खो देते हैं। गाँधी के अहिंसा संबधी प्रयोग और विचार उपाध्याय और संघवी के लिए अंधे आदर्श नहीं। वे उन्हें श्रमण परम्परा के तात्त्विक विवेचन के क्रम में ही देखते हुए उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं को चिह्नित करते हैं।

वैदिक और श्रमण-चिंतन परम्परा की सामान्य-भूमि

वैदिक और श्रमण परम्परा के भेद के पहले वह कौन सी स्थिति थी जिनके बीच से एक दूसरे से नितांत भिन्न जीवन दर्शन पर आधारित इन दो परम्पराओं का विकास हुआ! गोविंद चंद्र पाण्डे अपने लेख में इस बौद्धिक इतिहास का उसके सामाजिक संदर्भों में चित्र उपस्थित करते हैं और इन दोनों परम्पराओं के पूरे विकास के प्रारम्भिक इतिहास में जाकर उस साझी दुनिया की बात करते हैं जो समूचे उत्तर भारत में फैली थी और जिसकी एक सामान्य शब्दावली भी थी। एक तरफ़ यज्ञ पर आधारित इस लोक में कल्याण की कामना और दूसरी तरफ़ उससे परे जाकर इस लोक के निषेध की प्रेरणा से वैदिक और श्रमण परम्पराएँ बिलकुल अलग-अलग दृष्टियों को जन्म देती हैं।

याज्ञिक विधान समाज की मूलभूत संरचना समझने के लिए धर्म-चिंतन और सांस्कृतिक तथा बौद्धिक इतिहास के आधुनिक अध्येताओं के लिए एक गहरा विषय रहा है। इसके पीछे शब्द और कर्म के संबंध की प्राचीन गुत्थियों के

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 391

यज्ञीय कर्मकाण्ड में छिपे रहने का विश्वास रहा है। कई बार कर्मकाण्ड और यज्ञीय विधान की मूल संरचना सामान्य मानवीय कार्य-कलाप के भी कई पक्षों को समझने में उपयोगी मानी जाती रही है। इसके पीछे यह विवेक काम करता है कि मानव जीवन को रचने वाले मूल तत्त्व एक ही रहे हैं और कर्मकाण्ड की व्याख्या उसके विश्लेषण में हमारी मदद कर सकती है। प्राचीन कर्मकाण्डों से लेकर आधुनिक यांत्रिक जीवन का आधार एक ही तात्त्विक चेतना हो— यह समझ विवादास्पद हो सकती है लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि कर्मकाण्डों की मनुष्य के जीवन में केंद्रीय भूमिका किसी न किसी रूप में रहती है। कर्म की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ और रूप अवश्य उभर आते हैं और किसी समाज में उन्हें महत्त्वपूर्ण भी मान लिया जाता है। कर्मकाण्ड अपने मूल रूपों और विधान में भले ही बदलते जाएँ, लेकिन उनके इर्द-गिर्द भाषा और कर्म पर हुआ चिंतन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। श्रमण परम्पराएँ वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में खड़ी होती हैं और अपना नया तत्त्व-दर्शन भी रचती हैं। लेकिन आगे चल कर अपने चिंतन के विकास और फैलते प्रभाव में ये परम्पराएँ भी कर्मकाण्डों की एक नयी व्यवस्था खड़ी करती हैं। गोविंद चंद्र पाण्डे अपने लेख में वैदिक कर्मकाण्डों से परे जाकर जीवन और जगत पर विचार की एक पूरी परम्परा के अध्ययन से श्रमण परम्पराओं की पूर्व-पीठिका दिखाते हैं।

कर्मकाण्ड अपने मूल रूपों और विधान में भले ही बदलते जाएँ, लेकिन उनके इर्द-गिर्द भाषा और कर्म पर हुआ चिंतन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। श्रमण परम्पराएँ वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में खड़ी होती हैं और अपना नया तत्त्व-दर्शन भी रचती हैं। लेकिन आगे चल कर अपने चिंतन के विकास और फैलते प्रभाव में ये परम्पराएँ भी कर्मकाण्डों की एक नयी व्यवस्था खड़ी करती हैं।

अविहिंसा : हिंसा का विधि पक्ष

जगन्नाथ उपाध्याय विभिन्न धर्म और दर्शन परम्पराओं में अहिंसा चिंतन पर मतैक्य दर्शाते हैं, जो गाँधी के व्यावहारिक चिंतन— जिसे आज के संदर्भ में राजनीति का क्षेत्र माना जाता है— में प्रतिफलित होता है। गाँधी का राजनीतिक चिंतन अहिंसा के इर्द-गिर्द परम्परा से मिले विचारों की आधुनिक परिणति है। उपाध्याय मनु के हवाले से प्राचीन अहिंसा के विचार की व्यापक भूमिका का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, और हमारे अपने समय में स्वयं गाँधी में अहिंसा चिंतन में छिपे द्वैध पर उँगली रखते है। उपाध्याय अहिंसा की विचार परम्परा को एक लम्बी बहस के रूप में देखते हैं। उनके लिए वह जैसे भारतीय बौद्धिक चिंतन को आकार देता रहा है। उपाध्याय अपनी बात इस कथन से शुरू करते हैं— 'अहिंसा भारतीय परम्परा में एक विकसनशील आध्यात्मिक प्रयोग है'। वे परम्परा का संधान समकालीनता की भूमि पर करते हुए एक नयी दृष्टि तलाशते हैं। उनकी शैली पर शास्त्र का बोझ नहीं, बल्कि उसमें परम्परा के आलोक में अर्जित दृष्टि की तीक्ष्णता है। यह महज संयोग नहीं कि दर्शन के राजपथ अर्थात् वेदांत का पण्डित होते हुए भी वे बौद्ध दर्शन जैसे श्रमण पथ पर चल पड़े। उपाध्याय हमारे समय के मनीषी चिंतक जिद्दू कृष्णमूर्ति के प्रवचनों के अनाम पण्डित रहे हैं, जो उनके आख़िरी दिनों में गहरे संवाद-मित्र भी थे।

परम्परा का संधान अपने समय का भी संधान होता है। विचारों के इतिहास में अपने समय और अतीत के बीच की झिल्ली बेहद पतली होती है जिसे विचारों की गति एकमेक कर देती है। निश्चय ही विचार परम्पराओं के विकास का यही स्वाभाविक क्रम भी होता है। उपाध्याय वर्तमान भारतीय जीवन को प्रवृत्ति-निवृत्ति, ब्राह्मण-श्रमण, ऋषि-मुनि, हिंसा-

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 392

अहिंसा जैसे लम्बे समय से चले आ रहे द्वैतों पर टिका मानते हैं। उनके अनुसार इस भेद से भारत का सम्पूर्ण अंतर और बाह्य जीवन बँधा है और इसे समझ कर ही इस समाज को नयी दिशा दी जा सकती है। इस विचार क्रम में उपाध्याय के अनुसार गाँधी के अहिंसा-प्रयोग श्रमण परम्पराओं से तुलनीय हैं, इसके बावजूद गाँधी अपने जीवन दर्शन में वैदिक हिंदू परम्परा के आध्यात्मिक पक्ष को तरजीह देते हैं। उपाध्याय श्रमण चिंतन के हवाले से यह याद दिलाते हैं कि अहिंसा पर विचार की परम्परा प्रयोग की कसौटी पर ही बनी है। लेकिन साथ ही उसके विचार के सामाजिक सांस्कृतिक अर्थात् बाह्य रूपों के अलावा उसका अंतर भी विकसित होता रहा है, विशेषकर व्यक्तिगत और मानसिक साधन के क्षेत्र में। गाँधी श्रमण परम्परा के आधुनिक विचारकों के लिए इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि अहिंसा पर विचार और प्रयोग की पुरानी परम्परा नया जीवन पा लेती हैं।

उपाध्याय की मूल दृष्टि परम्परागत विचार-सरणियों में पगे एक सूक्ष्म दार्शनिक विचारक की है। इसलिए वे अपने समय में अहिंसा के विचार की नयी सम्भावनाओं और तात्कालिकता से न दब कर व्यवहार और कर्म के लिए आवश्यक गूढ़ तत्त्वों पर ज़ोर देते हैं। परंतु ऐसा अहिंसा के एक मानसिक गुण का दर्जा प्राप्त कर लेने पर ही सम्भव होता है। आगे चलकर वे अहिंसा के विचार के सातत्य का आधार सिर्फ़ कर्म या व्यवहार नहीं वरन् मनुष्य की चेतना को ठहराते हैं, जबकि अहिंसा के सामान्य संकेत व्यावहारिक जीवन में ही पनपते हैं। बौद्ध दर्शन में अहिंसा का विचार चेतना और कर्म के बीच कोई द्वैत नहीं मानता, जबकि वैदिक और जैन परम्परा में यह द्वैत बना रहता है, इसीलिए इनमें भौतिक और दैहिक दण्ड की व्यवस्था है। बुद्ध के अनुसार चूँकि चित्त ही क्लेशों का आधार है, इसलिए उसकी रक्षा ज़रूरी है। बौद्धों में चित्त-शुद्धि की भाषा प्रबल है और जैनियों में तप और देह-दण्ड की प्रधानता है।

उपाध्याय अहिंसा की इस दृष्टि को सहज गुण के रूप में समाज में स्थापित होने वाला आदर्श मानते हैं। इस स्तर पर पहुँच कर अहिंसा का विचार 'अविहिंसा' अर्थात् करुणा के आदर्श में बदल जाता है। अहिंसा और हिंसा के द्वैत से परे जाकर अर्जित की गयी दृष्टि से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। हिंसा की वैधता या वैध हिंसा स्वयं एक बड़े वैचारिक ऊहापोह का विषय रहा है। महाभारत के 'आनृशंस्य' के विचार के सामने 'अविहिंसा' का श्रमण आदर्श हमें इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करने पर बाध्य करता है। लेकिन उपाध्याय जहाँ आनृशंस्य को जीवन के व्यापक चराचर जगत और नैतिक मूल्यों के ताने-बाने अर्थात् देशकाल से बँधा दिखाते हैं, वहीं वे अहिंसा को एक सतत विकसित होने वाले आध्यात्मिक गुण के रूप में रखते हैं। उपाध्याय गीता और गाँधी में बहुत कुछ मूल्यवान होते हुए भी उनमें अंतर्विरोध लक्षित करते हैं। वे अहिंसा को शाश्वत अर्जित मूल्य नहीं मानते, बल्कि नित्य प्रयोग द्वारा मानवीय स्थितियों के संदर्भ में स्थापित होते देखते हैं। अपने समय में अहिंसा को अर्जित करने के प्रयास में परम्परा में उसके प्रयोग और शास्त्र आधार-भूमि और संकेत सूत्र होते हैं।

अहिंसा का विचार 'अविहिंसा' अर्थात् करुणा के आदर्श में बदल जाता है। अहिंसा और हिंसा के द्वैत से परे जाकर अर्जित की गयी दृष्टि से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। हिंसा की वैधता या वैध हिंसा स्वयं एक बड़े वैचारिक ऊहापोह का विषय रहा है। महाभारत के 'आनृशंस्य' के विचार के सामने 'अविहिंसा' का श्रमण आदर्श हमें इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करन पर बाध्य करता है।

अहिंसा का सामान्य अर्थ निषेधवादी रहा है— वह जो हिंसा से दूर ले जाए, और उसका निराकरण करे। उपाध्याय उसे मुख्य रूप से

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 393

विधिवादी यानी विधान करने वाली धारणा के रूप में रखते हैं। अहिंसा इस अर्थ में हिंसा का निषेधात्मक प्रत्यय नहीं बल्कि स्वयं में एक ऐसा प्रत्यय है जो समस्त तत्त्व-चिंतन का सार है। दूसरी तरफ़ अहिंसा का विचार एक आधार या प्रतिज्ञा भी है— सम्पूर्ण मानवीय चिंतन और अस्तित्व की। गाँधी अपने प्रयोगों से इस आदर्श को छूते जान पड़ते हैं। उपाध्याय अहिंसा के इस तात्विक आधार का यहाँ प्रणयन करते हैं, जो कि बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा पर खड़ा है। वे सिर्फ़ श्रमण विचार परम्परा के व्याख्याता नहीं बल्कि उसकी नयी वैचारिक निर्मिति और प्रयोगशील सम्भावनाओं के सूत्र भी हमारे सामने रखते हैं।

उपाध्याय वैदिक या ब्राह्मण और श्रमण परम्परा का मूल भेद दोनों की अलग-अलग विश्व दृष्टि और तत्त्व चिंतन में देखते हैं। यज्ञीय विधान में लोक में कल्याण का संकल्प निहित रहता है, जिसमें यज्ञ मनुष्य द्वारा कर्मरत्होने का प्रतीक विधान बन जाता है। आगे चलकर यह बहुत जटिल तात्विक चिंतन की भूमि तैयार करता है, जब मीमांसक याज्ञिक विधान अर्थात् कर्म को व्यापक और गहरे अर्थ में भाषा से जोड़ते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ बौद्ध दर्शन सृष्टि और अस्तित्व को चित्त या विज्ञान में स्थापित करता है।

यज्ञीय विधान में लोक में कल्याण का संकल्प निहित रहता है, जिसमें यज्ञ मनुष्य द्वारा कर्मरत् होने का प्रतीक विधान बन जाता है। आगे चलकर यह बहुत जटिल तात्विक चिंतन की भूमि तैयार करता है, जब मीमांसक याज्ञिक विधान अर्थात् कर्म को व्यापक और गहरे अर्थ में भाषा से जोड़ते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ बौद्ध दर्शन सृष्टि और अस्तित्व को चित्त या विज्ञान में स्थापित करता है।

आत्मौपम्य और आध्यात्मिक लोकसंग्रह

जैन धर्म और चिंतन परम्परा की दृष्टि से अहिंसा के प्रश्न पर विचार करते हुए सुखलाल संघवी इसकी दो धाराओं, वैदिक और श्रमण, में तात्त्विक समानता देखते हैं। यह भेद मूलत: जीवन दृष्टि का है, जिससे दोनों धाराएँ अहिंसा के विचार और व्यवहार का विकास करती हैं। जहाँ श्रमण परम्परा अपनी जीवन दृष्टि में मुख्यत: व्यक्ति केंद्रित और आध्यात्मिक है, वहीं वैदिक या ब्राह्मण परम्परा सामाजिक या लोकसंग्राहक है। लोकसंग्रह और आध्यात्मिकता का द्वंद्व जहाँ श्रमण परम्परा को नकार या उदासीनता की ओर ले जाता है, वहीं ब्राह्मण परम्परा में यह द्वंद्व नये टकराव पैदा करता है। संघवी जैन परम्परा में अहिंसा का मूल श्रमण परम्परा में चले आ रहे आत्मौपम्य (आत्म की सादृश्यता या चाहना) के विचार में बताते हैं, जहाँ से हिंसा की वर्जना और अहिंसा के सिद्धांत का आधार पड़ता है। संघवी श्रमण परम्परा में अहिंसा की उस विशिष्ट धारणा को रेखांकित करते हैं जिससे कि केवल प्राण का हरण ही हिंसा का आधार नहीं रह जाता, न ही उसका निषेध अहिंसा को जन्म देता है। हिंसा का वास्तविक आधार प्रमाद और राग-द्वेष होते हैं। दूसरी तरफ़ हिंस्य प्राणी के बजाय हिंसक की वृत्ति, ज्ञान और बल में हिंसा का दोष देखा जाता है। संघवी के अनुसार महावीर के अहिंसा संबंधी विचारों के आधार ये ही हैं। जैन परम्परा अहिंसा संबंधी विचारणा में प्रमाद को ही हिंसा का आधार बतलाती है, जिसके अभाव में हिंसा जान पड़ने वाला व्यवहार भी अहिंसक है। स्वयं जैन और बौद्ध धर्मों में भी अहिंसा के आधार पर किंचित मतभेद और विवाद की परम्परा रही है। दोनों परम्पराओं में प्राण का नाश मानसिक हिंसा से जुड़ कर ही दोष बनता है। हिंसा का आधार वस्तुत: मन या चित्त हैं, व्यवहार मात्र नहीं। जैन तत्त्व चिंतन में अप्रमत्त भाव से किया गया हिंसा आगे चलकर न कि अहिंसा माना गया, बल्कि एक गुण भी, जिसे निश्चय हिंसा भी कहा गया है। अंतत: अहिंसा का संबंध व्यवहार से होकर बल्कि चित्तगत कलेश या प्रमाद से होने के कारण मानसकि प्रवृत्तियाँ ही अहिंसा का निर्णय करती

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 394

हैं। संघवी यहाँ मीमांसा दर्शन में वैदिक धर्म के याज्ञिक कर्म में हिंसा के सूक्ष्म सैद्धांतिक विश्लेषण की जैनधर्म के अहिंसा के सिद्धांतों से तुलना करते हैं। उनके अनुसार दोनों में मूल अंतर दो जीवन दृष्टियों को केंद्र में रखना है, जहाँ एक में श्रमण या त्यागी को और दूसरे में गृहस्थ जीवन को महत्त्व दिया गया है।

संघवी अहिंसा संबंधी विचार की अत्यंत लम्बी परम्परा को गाँधी के अहिंसा चिंतन का उपजीव्य मानते हैं, जिसे वे नयी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में प्रयोग के क्षेत्र में बदल डालते हैं। अहिंसा का भावात्मक पक्ष जैन दर्शन में दया के आदर्श में निहित है, और बौद्ध दर्शन की अविहिंसा के आदर्श के क़रीब है। अहिंसा के निषेधात्मक अर्थ से ऊपर उठकर उसका भावात्मक अर्थ करुणा और दया को सम्भव करता है, यह अहिंसा में निहित निषेध भाव को आत्म-केंद्रित घेरे से बाहर निकाल कर लोक में उसका आदर्श खड़ा करता है, अहिंसा का यह अर्थ श्रमण परम्परा की तात्त्विक उपलब्धि है, जो उसे समकालीन नैतिक दर्शन के प्रश्नों को इन दृष्टियों से समझने में हमारी मदद करता है। गाँधी की अहिंसा की धारणा जो कि प्राणनाश की ओर भी ले जाती है इस अर्थ में संघवी के अनुसार तत्वत: अहिंसक है, क्योंकि यह कर्म आध्यात्मिक जीवन की प्रतिष्ठा के लिए है।

गाँधी अपने अहिंसा के प्रयोग और विचारों में आधुनिक समय के सबसे बड़े प्रयोगधर्मी व्यक्तित्व हैं। अपने अहिंसा के प्रयोगों के दायरे में शब्दों और भावनाओं में छिपी हिंसा को भी ला कर वे तात्त्विक सम्भावना का विस्तार करते हैं। लेकिन वे व्यवहार के मार्ग को ही अहिंसा की कसौटी मानते हैं, जिनमें एक सचेत सैद्धांतिक प्रश्न भी छिपा रहता है। सबसे बड़ी जटिलता इस बात को लेकर दिखती है कि जहाँ गाँधी की छवि उनके अहिंसा संबंधी प्रयोगों में किसी आधुनिक श्रमण की जान पड़ती है, वहीं वे अपने को वैदिक हिंदू धर्म के मार्गी बतलाते हैं। गाँधी के व्यवहार और चिंतन में यह कोई छिपा समन्वय का सिद्धांत नहीं है। कहीं न कहीं वे भारतीय विचार परम्परा में विकसित अहिंसा के स्रोतों की ओर बहुत सजगता से लौटते हैं और उनके प्रयोग द्वारा परिष्कार की बात करते हैं।

आधुनिकता और श्रमण-चिंतन

वैदिक और श्रमण परम्परा की इस ऐतिहासिक और वैचारिक पृष्ठभूमि की छाया आधुनिक भारत में भी दिखाई पड़ती है। गाँधी अपने विचारों और प्रयोग को सनातन हिंदू परम्परा में न केवल बार-बार स्थापित करते हैं, बल्कि उसकी पुनर्व्याख्या द्वारा धर्म, नैतिकता और राजनीति के इर्द-गिर्द आधुनिक भारत में कुछ बड़े प्रश्न खड़े करते हैं। हालाँकि अपने प्रयोग चिंतन में गाँधी केवल सनातनी हिंदू परम्परा ही नहीं, श्रमण-परम्परा से भी संवाद करते हैं। वे अक्सर वर्णाश्रम से जुड़ी धारणा और आम्बेडकर से रहे अपने विवादों के कारण श्रमण परम्परा के प्रतिपक्ष ही के रूप में देखे जाते रहे हैं। जबकि श्रमण परम्परा के आधुनिक भारतीय विद्वानों के लिए गाँधी का चिंतन और कर्म जैसे उनके शास्त्र की कसौटी बन गये थे। श्रमण परम्परा के कई विचार सूत्रों और व्यवहार के लिए गाँधी एक साथ पूर्व और उत्तर पक्ष की भूमिका में खड़े थे। श्रमण परम्परा के आधुनिक विचारकों में गाँधी को सबसे क़रीब से अपना संवादी बनाने की कोशिश धर्मानंद कोसम्बी और भीमराव आम्बेडकर में दिखती है। कोसम्बी बौद्ध परम्परा से चलकर आधुनिक समाज चिंतन से प्रभावित होते हैं, तो भीमराव आम्बेडकर आधुनिक समाज विज्ञान की ओर से चलकर बौद्ध परम्परा तक पहुँचते हैं।

औपनिवेशिक युग में गाँधी कर्म और प्रयोग को एक बार फिर सामाजिक चिंतन के मूल में स्थापित करते हैं और उनकी शब्दावली श्रमण परम्परा के कई तत्त्वों को आधुनिक समय में परखने पर ज़ोर देती है। धर्मानंद कोसम्बी सन् 1935 में गाँधी की प्रेरणा से बने काशी विद्यापीठ में रह कर 1935 *भारतीय संस्कृति और अहिंसा* जैसे ग्रंथ की मराठी में रचना करते हैं। श्रमण और वैदिक परम्परा के ऐतिहासिक विवरणों से भरी यह पुस्तक गाँधी के सत्याग्रह और

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 395

समाजवाद के बीच मानो किसी नये श्रमण चिंतन को सम्भव करने का प्रयास दिखती है। कोसम्बी के अनुसार गाँधी का सत्याग्रह का विचार समाजवाद के समत्व के दर्शन से गुँथ कर निष्प्राण पड़ी श्रमण परम्परा को पुनर्जीवित कर सकता है। कोसम्बी के लिए गाँधी श्रमण परम्परा के इतिहास के असंख्य चरित्रों और उनके विचारों की आधुनिक कड़ी में सहज ही जुड़ जाते हैं। जहाँ कोसम्बी के लिए गाँधी संवादी और सहयात्री हैं, वहीं आम्बेडकर के लिए वे एक ऐसा प्रतिपक्ष हैं जिसके तर्कों से भिड़कर वे अपनी सोच तराशते हैं। एक के लिए नये समाज का स्वप्न गाँधी से होकर जाता दिखाता है, तो दूसरे के लिए वह स्वप्न उनके नकार से ही सम्भव होता है।

कोसम्बी श्रमण परम्परा में अहिंसा की चर्चा का अंत परिग्रह और श्रम के सिद्धांत से करते हैं। उनकी दृष्टि में परिग्रह की प्रवृत्ति में मानव श्रम का शोषण ही श्रमण परम्परा के ह्रास का कारण था। स्त्री और दास का परिग्रह के तंत्र में शोषण समानता के किसी भी सिद्धांत को स्थापित नहीं होने देता। श्रमणों का संन्यास भी अंततः परिग्रह के तंत्र से जा बँधा था। कोसम्बी श्रमणवाद की मूल स्थापनाओं को नहीं नकारते, जो अपनी मूल प्रेरणा में समाज को बंधनों से छुटकारा दिलाने की खोज कर रहे हैं। लेकिन वह समत्व जो श्रम के सिद्धांत में चरितार्थ नहीं होता वह धीरे-धीरे अपना अर्थ खो बैठता है। मार्क्स के सिद्धांतों से प्रेरित समाजवाद कोसम्बी को स्त्रियों और दासों के परिग्रह से आगे भूमि और जीवन-यापन के साधनों के भी परिग्रह से बाहर निकलने का रास्ता दिखलाता है। गाँधी के सत्याग्रह के दौर में लिखते हुए कोसम्बी उनके सत्य और अहिंसा के आंदोलन और आचार का स्वराज्य से कैसा संबंध होगा इस पर प्रश्न खड़े करते हैं। उनके लिए गाँधी का सत्याग्रह जो स्वराज्य को लक्ष्य मानता है, परिग्रह के तंत्र की मूल स्थापनाओं को नहीं छूता। आख़िरकार कोसम्बी कहते हैं कि गाँधी ज़मींदारों और राजाओं को प्रजापालक और रामराज्य के आदर्श से बँधा देखना चाहते हैं। कोसम्बी गाँधी के अहिंसा और सत्य के आदर्शों की सीमा ठीक यहीं निश्चित होते देखते हैं। उनके अनुसार परिग्रह अहिंसा और सत्य का विरोधी है। और वे एक ऐसे स्वराज्य की कल्पना करते हैं जहाँ परिग्रह का कोई स्थान न हो। फिर भी कोसम्बी गाँधी में एक आधुनिक श्रमण व्यक्तित्व की छवि प्रक्षिप्त करते हैं, यदि सत्याग्रह अपरिग्रह के सिद्धांत से पूरी तरह से मिलकर गाँधी के वचनों में सुनाई पड़ने लगे। कोसम्बी इस प्रसंग में शाक्य राजा भद्दिय के कथन की टीप देते हैं जो पाँच शाक्य कुमारों और भाई उपालि के साथ भिक्षु बन गया था। एक बार बुद्ध के पूछने पर उसने 'अहो सुखं, अहो सुखं' का अर्थ छोड़े हुए राज प्रासाद की स्मृति नहीं वरन् भय, उद्विग्नता और त्रास से सच्ची स्वतंत्रता का सुख कहा था।

कोसम्बी अंततः अहिंसा का आधार प्रज्ञा बताते हैं— प्रज्ञा अर्थात् पूर्वानुभव से विकसित ज्ञान, जो कि मनुष्यों को अन्य प्राणियों से अलग ठहराता है। किंतु यह प्रज्ञा नितांत वैयक्तिक नहीं होती बल्कि समाज और देशकाल के संदर्भों में ही घटित होती है। इस प्रकार वह सतत विकसनशील और परिवर्तनकामी भी है, मनुष्य की प्रज्ञा एक सामूहिक पूँजी है, सिर्फ़ व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं। यह प्रज्ञा अहिंसा से जुड़ कर ही मनुष्य के लिए उपयोगी बनती है, क्योंकि दया के अभाव में वो हिंसा का रूप धारण कर लेती है। कोसम्बी के अनुसार प्रज्ञा और अहिंसा के योग का आदर्श मार्क्स के समाजवाद में भी पूरी तरह लक्षित नहीं होता, जो कि प्रभु वर्ग के संहार में विश्वास करता है। दूसरी तरफ़ भारत में जैन और बौद्ध परम्पराएँ अहिंसा और लोक कल्याण का मार्ग खोलकर भी उसे सम्प्रदाय के दायरे तक ही सीमित रख राजनीति तक न ला सकी थीं। आधुनिक समाजवाद में छिपा समत्व का आदर्श कोसम्बी के लिए अहिंसा के योग से ही अर्थवान हो सकता था।

आम्बेडकर अपने समाज चिंतन में बुद्ध और मार्क्स के विचारों की तुलना को क़तई बेमेल नहीं मानते और दोनों के योग को एक नयी दिशा के रूप में देखते हैं। हालाँकि उनके अनुसार दोनों

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 396

में मूल अंतर अहिंसा के विचार को लेकर है। साधन भले ही अलग हो, साध्य दोनों का सामाजिक समत्व का ही है। अहिंसा साध्य और साधन के द्वंद्व का सबसे जटिल उदाहरण है। अहिंसा की पूर्णता का आदर्श मनुष्य के सामने जीवन व्यापर से लेकर न्याय की आकांक्षा तक को सीमित कर सकता है। आम्बेडकर इसका ज़िक्र करते हैं कि बुद्ध ने वैशाली के सिंह सेनापति के प्रश्न के उत्तर में अहिंसा का अर्थ न्याय से वंचित होना नहीं बताया था। इसके साथ ही वे अमेरिकी दार्शनिक जॉन ड्यूवी का मत रखते हैं जिनके अनुसार साध्य ही अंततः साधन को उचित या अनुचित होने का मानक होता है। बुद्ध की अहिंसा महावीर की तरह पूर्ण नहीं, बल्कि साध्य के संदर्भ में ही देखी जा सकती है। आम्बेडकर बौद्ध दर्शन को आधुनिक समाज दर्शन के बरअक्स रखते हैं। वे गाँधी की अहिंसा की अवधारणा में मृतप्राय भारतीय अतीत को नया जीवन देने का प्रयास देखते हैं, क्योंकि गाँधी सामाजिक और आर्थिक आधारों को पुरानी व्यवस्था की सीमाओं से अलग नहीं कर पाते। गाँधी भारतीय समाज के जातियों के आधार और आर्थिक वर्ग की व्यवस्था को यथावत छोड़कर समाज परिवर्तन की बात करते है। वे लोगों को हतभाग्य होने से उबारते नहीं, वरन् उसे एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते है। आम्बेडकर अहिंसा को किसी तात्विक आदर्श के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक आधारों की नयी समझ से परखना चाहते है। इसलिए गाँधी आम्बेडकर के लिए सम्भावना नहीं बल्कि एक तरह की बाधा थे, लेकिन उससे ज़्यादा गाँधीवाद एक प्रबल विचारधारा के रूप में उभर चुका था।

हमें गाँधी की अहिंसा संबंधी गुत्थियों की ओर थोड़े धैर्य से लौटने की आवश्यकता है। श्रमण परम्पराओं में हुए अहिंसा चिंतन के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि पूर्ण अहिंसा का आदर्श जैसे तात्विक स्तर तक ही रहा है। अप्रमत्त चित्त या मानसिक शुद्धि श्रमण परम्पराओं में भी हिंसा की कई स्थितियों को अहिंसक ठहराते हैं। चित्त और विकल्प श्रमण तत्त्व चिंतन का आधार रहे हैं, इसलिए अहिंसा के व्यावहारिक प्रश्न का उनमें निरसन का सिद्धांत बेमेल नहीं जान पड़ता। गाँधी ज्यों इस श्रमण तत्त्व चिंता के प्रश्न को आधुनिक संदर्भ में व्यवहार के क्षेत्र में लाकर पूर्ण अहिंसा की सम्भावना फिर से तलाशते हैं। गाँधी सिद्धांत की अनदेखी नहीं करते, बल्कि प्रयोग और सिद्धांत के द्वंद्व को अपने चिंतन में कभी लागू नहीं होने देते। वह ठहराव गाँधी के अहिंसा चिंतन को वापस पुरानी पटरी पर ला छोड़ता है, जिसकी ओर आम्बेडकर का इशारा था। श्रमण सिद्धांत में अहिंसा के जिस विधि पक्ष की अविहिंसा और दया जैसे स्व से लोक में इन आदर्शों की प्रतिष्ठा का सिद्धांत रचा गया था, वो आश्चर्यजनक ढंग से गाँधी के प्रार्थना प्रवचनों में प्रतिष्ठित होते दिखीं। गाँधी ने दया के भी ऊपर गीता के अनासक्ति के दर्शन को अहिंसा से जोड़ा। तत्त्वतः अहिंसा की गीता के माध्यम से की गयी व्याख्या श्रमण परम्परा का नकार नहीं। बल्कि हम गीता में सांख्य और बौद्ध तत्त्वों का योग स्वीकार करें तो गाँधी श्रमण परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ते हैं। लेकिन जो तत्त्वतः गाँधी नया जोड़ते हैं वह है सहनशीलता का पक्ष, जिसे वे अहिंसा के सिद्धांत के पालन का आधार मानते हैं। निश्चय ही जीवन का निषेध नहीं बल्कि उसमें विपत्ति, दुख और विषाद का स्वीकार और सहनशीलता गाँधी पश्चिम की धर्म, कला और चिंतन से ग्रहण करते हैं। उनके लिए इस रूप में अहिंसा आत्मशक्ति का अर्जन है, सहनशीलता और आत्म नियंत्रण के सहारे। गाँधी के ये सिद्धांत उन्हें एक लम्बी बहस के केंद्र में रखते है तथा आम्बेडकर और अन्य समकालीन मनुष्य के किसी सामाजिक तंत्र में बँधे होने का प्रश्न बार-बार सामाने लाते हैं, जो ऐसे किसी भी आदर्श के चरितार्थ होने की सम्भावनाओं को सीमित करते हैं। ये प्रश्न सिर्फ़ व्यक्ति के आत्म के ही नहीं बल्कि उसके सामूहिक अस्तित्व की ऐतिहासिक निर्मिति को तोड़ने की माँग करते हैं।

श्रमण चिंतन परम्परा के ऐतिहासिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करते यहाँ प्रस्तुत निबंध न केवल भारतीय भाषाओं में शास्त्रों के गहरे

30_rakesh_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 397

अवगाहन से सम्भव विचार की परम्परा का निदर्शन हैं, बल्कि उनके माध्यम से समकालीन चिंतन की नयी धाराओं के अन्वेषण का भी द्वार हैं। इन लेखों के माध्यम से हम परम्परा की संग्रहालीय प्रस्तुति नहीं कर रहे बल्कि उसकी धाराओं के प्राणवान होने का साक्ष्य अपने सामने रखते हैं। हर साक्ष्य स्मरण भी है, यह हम नहीं भूलते। अपनी ही भाषाओं में ऐसे साक्ष्य की तलाश क्या औपनिवेशिक आधुनिकता की विडम्बना नहीं है! लेकिन हमें यह क़तई नहीं सोचना चाहिए कि यह विडम्बना हमारे समाज के पूरे परिदृश्य की रही है। आख़िरकार यहाँ प्रस्तुत लेख निष्प्राण बौद्धिक विलास नहीं सुविचारित शास्त्रीय परम्परा और अपने समय में उसकी प्रासंगिकता के समकालीन मुहावरे में ढले हैं। यह शास्त्रीयता 'शुष्को वृक्षः' और नीरस पण्डितों के मुहावरे से अलग है। श्रमण चिंतन परम्परा के विचार आधुनिक भारत में अहिंसा और सामाजिक तथा राजनीतिक समत्व की खोज करते हैं और समकालीन उदाहरण बन कर उभरते हैं। गाँधी और आम्बेडकर आधुनिक ज्ञान में पगे थे और राजनीतिक कर्म के मार्ग से परम्परा की ओर लौटते हैं। कोसम्बी, संघवी और उपाध्याय जैसे पारम्परिक ज्ञान में पगे विद्वानों ने समकालीन कर्म के अलोक में परम्परा की व्याख्या की है।